बगावत

अशोक कुमार

बगावत

उनसे कुछ खास हो नहीं पाया था। ऐसा नहीं कि वे कंपीटेंट नहीं थे या उन्होंने कोशिशें नहीं की लेकिन तुलसीदास जी का कथन "हानि लाभ, जीवन मरण, जस अपजस विधि हाथ" उन पर पूर्णतया लागू था। और क्योंकि सामाजिक परिवेश में वे सफल नहीं थे इसलिए उनकी कोई खास सामाजिक पोजीशन भी नहीं थी। आर्थिक स्थिति

ठीक थी इसलिए लोग दुआ सलाम कर लेते थे और इनसे संबंध भी जोड़े रखते थे। आर्थिक स्थिति इसलिए ठीक थी क्योंकि इनके पिता कामता प्रसाद श्रीवास्तव बड़े जमींदार थे। उन्होंने अपनी मेहनत से काफी कमाया और जमा किया। लोग उन पर जान छिड़कते थे। लोग इसलिए जान छिड़कते थे क्योंकि इन्होंने अपनी जमींदारी में कभी किसानों/गाँव वालों पर औरों की तरह जौर जुल्म नहीं किए। सबके साथ प्यार से व्यवहार किया और जहाँ जरूरत पड़ी लोगों को मदद की। हालाँकि यही इनकी परेशानी भी बन गई। क्योंकि जिसने १९२० में पचास रुपये उधार लिए उसने वादा कर के भी कभी वापस नहीं किए। कामत प्रसाद को उसकी वादा खिलाफी पर गुस्सा आ गया, उन्होंने उस पर मुकदमा कर दिया। मुकदमा चला तो चलता गया, तारीख पे तारीख पड़ती गई। पचास रुपये के मूल पर मुकदमे में खर्च हो गए सौ रुपये लेकिन फैसला दूर दूर तक नदारद। और ऐसे कम से कम सौ मुकदमे तो उनके अदालत में चल ही रहे थे।

कामता की औलाद एक ही थी - ओंकार प्रसाद श्रीवास्तव। ओंकार को वे वकील बनाना चाहते थे अंग्रेजों का जमाना था और कामता से अँगरेज बहादुर के अच्छे संबंध थे। उस जमाने में हाई स्कूल पास लोगों को सरकार वकील मुकर्रर कर देती थी। लेकिन ओंकार हाई स्कूल में तीन बार फेल हो चुके थे और चौथी बार भी पास होने की कोई उम्मीद नहीं थी। मजा ये के ये अपने जिस दोस्त को जो विषय पढ़ा दें वो पास हो जाए और खुद उसी में फेल! कामता को अपने बुढ़ापे और ओंकार की नाकामियों से आगे की नाव डगमगाती दिखी। कायस्थ की औलाद, जमींदार का खानदान वकालत न सही तो भी काम कम से कम ऐसा तो होना चाहिए जो लोगों की नजरों में इज्जत रख ले। तमाम बातें सोची गईं। आखिर में फैसला हुआ कि कलकत्ता में एक कागज बनाने वाली कंपनी है बंगाल पेपर मिल्स जो इस इलाके में अपने लिए एक एजेंसी की तलाश में हैं। कामता ने झाँसी शहर के बीचों बीच मानिक चौक में तीन दुकाने खरीदीं और ओंकार के नाम पर इस कंपनी की एक एजेंसी खुलवा दी।

शुरू शुरू में तो सब ठीक चला फिर मुनाफे की जगह घाटा होने लगा और लगातार होने और बढ़ने लगा। कंपनी बंद करनी पड़ी। फिर एक अहाता ले लिया गया जिसमें दस दुकाने निकाली गईं जिन्हें किराये पर उठा दिया गया। किरायेदार भीख माँगते हुए आते और कुछ महीनों बाद मालिक जैसा रौब दिखाते। महँगाई बढ़ी तो किराये से ज्यादा खर्च दुकानों की सफाई-पुताई-मरम्मत में लगने लगा। जो रही सही कसर थी वो १९४७ के बाद वाले स्वराज्य ने पूरी कर दी। सरकार रेंट कंट्रोल एक्ट ले आई जो पूरी तरह से किरायेदारों के ही तरफ था। करनफूल कान काटने लगा। नौबत ये आई कि

अहाते समेत दुकानें आने पौने बेच डाली गईं। कामता बूढ़े भी हो चले थे और बीमार भी रहते थे। गाँव वाले मालिकों की रोजाना की निगरानी न रख पाने से इत्मीनान में थे। कभी कहते खड़ी फसल जानवर खा गए, कभी ये कि गल्ला गाड़ियों में भर कर ला रहे थे कि रास्ते में कबूतरा (लुटेरे) लूट ले गए, कभी ये कि बैल मर गया नया लेना पड़ेगा, कभी कुछ कभी कुछ ...बहरहाल ...जमींदारी जिससे कभी घर चलता था अब पैर का काँटा बन गई।

लड़का नाकारा हो, आमदनी की जगह खर्चे ही खर्चे हों, उम्र साथ छोड़ रही हो तो रात को क्या आदमी को दिन में भी अँधेरा ही अँधेरा दिखाई देता है। कामता ये नहीं समझे कि जो अँधेरा उन्हें उद्वेलित कर रहा है वह परिवार में औरों को भी वही कर रहा है और अगर इससे वे विचिलित होकर दीवानगी की हदों तक परेशान हो जाएँगे तो वे घर में सब को और भी परेशान कर देंगे। परिवार का चैन भंग हो जाएगा... कलह सुबह होते ही शुरू हो जाती थी। बाप अपने इकलौते बेटे को जिन गलियों और बद-दुआओं से नवाजता था वह अगर कोई दुश्मन भी सुन ले तो अपने कान बंद कर ले! ओंकार सुन लेते थे। बाप को इन्होंने कभी पलट कर जवाब नहीं दिया। सुनते जाते थे और अपने सफेद कुर्ते पायजामे को पहन, छड़ी उठा कर बाहर घूमने निकल जाते थे। सुबह शाम घूमना ही था जो उन्हें घर की घुटन और गालियों से - जरा देर को ही सही - लेकिन दूर रखता था। एक आध बार ऐसा भी हुआ कि सुबह घूमने निकले और दो दिन तक वापस ही नहीं आए। ढुँढ़ाई पड़ी।

दो दिन बाद वापस आए तो पता चला ग्वालियर चले गए थे। ग्वालियर डेढ़ घंटे का तो सफर था झाँसी से। वापस आए तो फिर वही गाली गलौच। स्थितियाँ जिनके मनानुसार होती हैं या जो स्थितियों से समझौता कर के जीते हैं वे स्थितियों से समझौता न कर पाने वालों की तकलीफ का अंदाजा नहीं लगा सकते। और स्थितियों से समझौता केवल वे ही नहीं कर सकते जिनमें भावनाएँ और संवेदनाएँ औसत से कहीं अधिक और कुशाग्र होती हैं। इसलिए वैसे लोगों में बर्दाश्त कम और बगावत ज्यादा होती है। ओंकार प्रसाद की बगावत उनके अपने ही खिलाफ थी। अंतर्मुखी। खामोश किस्म की। चुपचाप! चुपचाप तो होनी ही थी। अकेले लड़के थे और ऐसे बाप के जो बहुत रोबीला, इज्जतदार, तेज तर्रार था। जिसके सामने किसी की बोलने तक की हिम्मत नहीं थी। ओंकार छः वर्ष के थे तब इनकी माँ की मृत्यु हो गई, माँ के मरने से क्या तकलीफ हुई क्या मन पे गुजरी क्या दुख हुआ वो जो कुछ होना था वो तो हुआ लेकिन क्या हुआ ये समझ में ही नहीं आया। समझ में आने वाली उम्र ही नहीं थी। अपनी बात कोई था ही नहीं जिससे बाँट पाते। चुप रहे। सत्रह साल में इनकी शादी कर

दी गई। बीवी मिडिल (उस समय का हाई स्कूल) पास थी। काम कर सकती थी लेकिन जमींदार की बहू थी इसलिए बाहर कैसे जाए, काम करना तो खानदान की तौहीन थी। वैसे तब पैसे की जरूरत भी नहीं थी।

वे दिन ओंकार के लिए सबसे सुखद दिन थे। बीवी मन की थी। दोनों मियाँ बीवी घूमने जाने लगे - कभी नैनीताल, कभी इलाहबाद कभी बंबई। घूमना घामना बंद हुआ जब जब बच्चे हो गए। साल दो साल के अंतर से तीन लड़के। लड़कों का बचपन बहुत आराम और मजे में गुजरा। किसी प्रकार की कोई महरूमियत नहीं। जब ज्यादातर बच्चे मीलों पैदल खटते थे तब ये तीनों अपनी अलग अलग सायकिलों से कॉलेज जाते थे। छटी से लगा कर इंटर तक कॉलेज था जिसमें इंटरवल में कभी समोसा, कभी मटर, कभी शीरे में डूबी मीठी गुझिया (जिसे लौंग कहते थे) ले ली जिसका पैसा महीने के आखिर में दिया जाता। पढ़ने के लिए कभी सेकंड हैंड किताबें नहीं लीं गईं, हमेशा नई। पढ़ाई में लड़के तेज थे और खेल कूद में भी अव्वल। हाई स्कूल तक आते आते ओंकार को लगने लगा था कि झाँसी से इन लड़कों को निकल कर किसी बड़े शहर में पढ़ने जाना चाहिए वरना इनकी जिंदगी घुट कर रह जाएगी। मिडिल फेल चाहे रहे हों लेकिन ओंकार थे आलिम। हर बात का ज्ञान, दुनिया की जानकारी - सब रखते थे। लड़कों की पैदाइश के बाद जब बाहर घूमना घामना बंद हो गया और लड़के बड़े होने लगे तो ओंकार ने बेतहाशा पढ़ना शुरू किया - लाइब्रेरियों में, अखबारों में, किताबें ढूँढ़ ढूँढ़ कर... न जाने कहाँ कहाँ से पता कर के इन्होंने ऋषकेश में शिवानंद आश्रम - जो की उस समय बस जरा जरा नाम कर ही रहा था - से खत-ओ-किताबत की, लड़कों के भविष्य के बारे में तमाम सोचा, तमाम राय लीं... दिल्ली, लखनऊ के विद्वानों से सलाह मशविरा किया और इसी सिलसिले में इनकी सूझ बूझ और लियाकत देख कर शहर के तमाम टीचर और बुद्धिजीवी इनके दोस्त बन गए। जो लोग पहले सिर्फ जमींदार के लड़के होने के कारण इनसे दुआ सलाम कर लेते थे अब दिल से इन्हें रुक कर 'प्रणाम बाबू जी' करने लगे। बहुत सोच समझ के बाद लड़कों को इन्होंने बी.एस.सी. करने भेजा लखनऊ। लखनऊ इसलिए क्योंकि ये बड़ा शहर था, झाँसी के पास भी था और वहाँ पढ़ाई के तमाम साधन मौजूद थे। बी.एस.सी. के बाद एक गया डाक्टरी पढ़ने और दो गए इंजीनियरिंग में।

अब सवाल था पैसा। रखा हुआ पैसा हमेशा नहीं चलता और कामता प्रसाद की मृत्यु के बाद जब ओंकार के तीन लड़के झाँसी के बाहर पढ़ने निकले और जब उनके खर्चे बढ़ते ही गए तब घर की हालात खस्ता से खस्तातर होती गई। तब ओंकार ने सबसे पहले तो अदालतों के मुकदमों में पैसा जाया करना बंद कर दिया। जो गया सो गया

अब और तो न जाए! खर्चे बढ़ते ही जाते थे। तिजोड़ी में रखे सब जेवरात, चाँदी की तश्तरियाँ, झालरें, पंखे, पायलें, छाजने सब बिक गए। ओंकार को काम का कोई तजुर्बा था नहीं इसलिए वो काम ढूँढ़ते भी तो क्या। हाँ, बीवी टीचर बन सकती थीं। सो पचास की उम्र में उनके लिए पास के एक स्कूल में बात की गई। पहले तो ओंकार को पत्नी की नौकरी का ख्याल ही नागवार गुजरा लेकिन वक्त की मार थी। पत्नी ने समझाया कि तनख्वाह पूरी चाहे न पड़े, आधी तो पड़ेगी। कुछ तो खर्च सधेगा। स्कूल वालों ने कहा जमाना बदल गया है, हाई स्कूल पास टीचर नहीं हो सकता। फिर किसी तरह ट्रस्टी से सिफारिश करवाई। ट्रस्टी कामता के जान पहचान का था। बोला, "कामता की बहू और नौकरी... नहीं नहीं... कुछ गलती हो गई तुम लोगों से" लेकिन अगर कामता की बहू थी और उसे नौकरी करनी ही थी तो स्कूल को नौकरी देनी भी थी। "हैड क्लर्क!" ओंकार ने सुना तो मुँह पर हाथ रख कर आँखें फाड़ दीं। "तुम्हें अंदाजा है खानदान का नाम क्या रहेगा?"

- "नौकरी न करो तो तुम्हें अंदाजा है कि खानदान रहेगा भी या नहीं?"

- "इससे घर का खर्च थोड़े ही चल सकता है!"

- "लेकिन घर खर्च में कुछ मदद तो मिल ही सकती है... मँझला पास हो जाए तब तक ही की तो बात है... फिर दोनों सँभाल लेंगे।"

ओंकार अपनी हालत जानते थे। बीवी जो कर रही थी वो परिवार के भले के लिए था। चुप रहने के आलावा उनके पास कोई चारा न था।

नौकरी लगने के बाद पत्नी सुबह उठकर ओंकार के लिए खाना बना कर रखतीं, अपना डब्बा बाँधतीं और चप्पल चटकाती नौ बजे निकल जातीं। ओंकार अकेलेपन और अपनी नाकारगी छुपाए जब सुबह नौ बजे दरवाजा अंदर से बंद करते तो मन मर मर जाने को होता। पत्नी शाम को पाँच तक वापस आती। तब तक खाना खाने, अखबार पढ़ने, इधर उधर चहल कदमी करने और अपनी बेचारगी को जी भर कोसने में जिस तरह दिन गुजरता वो ओंकार ही जानते। थोड़े दिन इस नकारात्मकता से गुजरते हुए इन्हें लगा कि इस तरह तो इनके मिजाज में कड़वाहट पैदा हो जाएगी, चिड़चिड़े हो जाएँगे। जो शख्स खुद से ही नाराज हो वह और क्या हो सकता है! और उस सूरत में इन्हें लगा कि वे उसी रस्ते जा रहे हैं जिस पर इनके पिता कामता प्रसाद हो लिए थे। अपनी चिड़चिड़ाहट, अपनी कुंठाओं के कारण परिवार के सभी का चैन भंग करते हुए, औरों को और भी परेशान करते हुए! पत्नी ने अगर बाहर की दुनिया सँभाली थी तो ओंकार ने घर की सारी जिम्मेदारी सँभाल ली - सफाई करना, डस्टिंग करना, कपड़े

धोना, सौदा लाना, कभी कभी-जब पत्नी को देर हो जाए - तो उसके आने से पहले खाना बना लेना, इत्यादि।

- "ये क्या कर रहे हो तुम? ...कोई सुनेगा तो क्या कहेगा..." पत्नी ने सवाल किया।

- "क्यों... जब तुम घर सँभाल सकती हो तो क्या मैं तुम्हारा बोझ हल्का नहीं कर सकता? ...हम दोनों ही तो हैं, एक दूसरे के लिए!"

बच्चे अपने परिवार और संस्कृति का प्रतिबिंब होते हैं। वे वो ही सीखते हैं जो देखते हैं। भगवद्गीता में कहा गया है कि जो बड़े करते हैं उसका ही अनुसरण छोटे करते हैं। इस परिवार में भी बच्चे जो देख रहे थे वही सीख रहे थे। वे देख रहे थे कि बाप बेकार और नाकारा है, माँ काम कर कर के किसी तरह घर चला रही है और दादा के कमाए हुए जेवर और जायदाद बेच बेच कर उनकी पढ़ाई का खर्च चल रहा है। छुट्टियों में आते थे तो वे अपनी माँ को ही तरह तरह खुश करने के लिए अवसर ढूँढ़ते थे, उसे पिक्चर दिखाने की जिद करते थे - जो वे सतत मना करती रहतीं। पिता से रिश्ता था लेकिन तना तना सा, खिंचा खिंचा-सा। कहते लड़के कुछ नहीं थे लेकिन पिता से बात करते समय उनकी भाषा और चेहरे की मांसपेशियाँ तुर्श हो जाती थीं। बच्चे देख तो चुके थे कि किस तरह ओंकार का बाप भी ओंकार पर गालियों पर गालियों की बौछार करता रहता था। सीखता तो आदमी हीरो से है - वो जो अपनी नजर में हीरो हो। और हीरो वो होता है जो सक्षम होता है, सामर्थ्यवान होता है, कंट्रोल करता है और जिसकी बात दुनिया मानती है। इस घर में लड़कों का हीरो उनका पिता नहीं, उनका दादा था... और दादा पिता को जूते पर मारता था।

बड़े के डाक्टरी पास होते होते गाँव की जमीनें बिक गईं थीं। जमीनें बेचीं तो लोगों ने कहा, "ये क्या किया ओंकार! ...जमीनें बेच दीं..." ओंकार ने कहा, "जमाना बदल रहा है, ये बाहर के पढ़े लिखे लड़के हैं ये अब जमीन जायदाद की देखभाल नहीं कर पाएँगे... जमीनें एक दिन जाया हो जाएँगीं... इसलिए उनके हक में यही है कि यह काम जीते जी मैं ही कर जाऊँ... उनकी तरक्की में कुछ भी हायल नहीं होना चाहिए।"

- "लेकिन पुश्तैनी जमीनें थीं... बटिया कर देते... बेचना नहीं चाहिए था..."

- "एक गाँव बेचा है... तीन गाँव खड़े कर रहा हूँ... मेरा एक एक लड़का एक एक गाँव के बराबर है... होनहार हैं,"

लेकिन जिस दिन ओंकार जमीनों का सौदा कर के आए उस दिन आ कर पौर के तख्त पर सामने आसमान तकते जो बैठे तो बैठे रह गए। सूर्यास्त हो गया, दुनिया में चिराग जल गए ये घुप्प अँधेरे में वैसे ही बैठे रहे। शायद अपने भाग्य को कोसते हुए या फिर अपनी नाकारगी को धिक्कारते हुए। या अंधकारमय भविष्य को महसूस करते हुए। कुछ दिनों बाद माँ की नौकरी - जो किसी तरह बुढ़ापे में लग गई थी - छूट गई। इंजीनियर बनने वाले बेटे की पढ़ाई का आखिरी साल अभी बाकी था। उम्मीद ये थी कि डॉक्टर अब कोई नौकरी कर लेगा और घर और छोटे की पढ़ाई सँभाल लेगा। उम्मीद पर ही उनकी दुनिया कायम थी। बड़े ने उम्मीद कायम भी रखी। उसने पास होते ही सरकारी नौकरी कर ली और तनख्वाह का कुछ पैसा घर भेजना शुरू कर दिया। लेकिन जब से उसने पैसा भेजना शुरू किया था तब से उसकी बातचीत और खतों की इबारत में एक बड़प्पन का भाव उभर आया था। वो उन छोटी छोटी बातों के लिए भी 'आर्डर' देने लगा था जिनसे उसका दूर दूर तक लेना देना नहीं था। मसलन घर में दादा जी के जमाने की जो बंदूक रखी है उसे बेच दो। तलवारों, ढालों को - जिनको दीवारों पर सजा रखा है -उन्हें हटाओ वहाँ से, हिज मास्टर्स वौइस् का भोंपू वाला ग्रामाफोन जो पड़ा है वो सड़ चुका है उसे बेच दो, घी खाने के जमाने अब लद गए, नए जमाने में लोग अब डालडा खाते हैं... सस्ता भी है और कहते हैं सेहत के लिए अच्छा भी है उसे इस्तेमाल किया करो... वगैरह वगैरह...! मँझला भी जब अपने फाइनल ईयर का इम्तिहान देकर आया तो उसके भी तेवर और थे। उसे फौज वालों ने कैंपस से ही चुन लिया था। फौज का नाम सुनते ओंकार और उनकी पत्नी सुन्न पड़ गए। "थोड़े दिन ठहर जाते... अभी तो पास हुए हो, कोई और नौकरी देख लेते।"

- "क्यों? फौज में क्या खराबी है? ...क्या सभी मर जाते हैं?"

उसके बाद क्या सवाल करते और वैसे भी सवाल करने की सामर्थ्य तो सक्षम और आत्मविश्वास से भरे व्यक्ति में होती है। ओंकार तो ये दोनों नहीं थे। वरिष्ठ उनको कोई मानता नहीं था और आत्मविश्वास समय की मार ने उनमें दो कौड़ी का नहीं छोड़ा था। छोटे लड़के को अपने दादा का अपने बाप को गरियाना याद नहीं था, - वो तब बहुत छोटा था, लेकिन वह अपने बड़े भाइयों का पिता के प्रति व्यवहार देख देख कर बड़ा हुआ था। ओंकार के साथ उसके व्यवहार में बाप के तईं अपने भाइयों से कहीं ज्यादा तीखापन था।

दिवाली की शाम थी। पूजा हो चुकी थी। छोटा लड़का थाली में दिए लिए झिंझरी पर लगा रहा था। बड़ा वाला, जो दो दिन की छुट्टी पर आया था, अपने लिए आए रिश्ते वालों की भेजी उनकी बेटियों की तसवीरें देख रहा था। ओंकार प्रसाद पौर वाले तख्त

पर जा के बैठ गए थे। लड़कों की माँ खाने का इंतजाम करने चौके की तरफ बढ़ रही थीं कि अचानक धड़ाम से गिर पड़ीं। चित्त, एकदम अचेत! गिरीं तो उनका बायाँ हाथ खील-बताशे-मिठाई वाली थाली पर जोर से पड़ा। थाली औंधी हो गई और आवाज से बड़े वाले का ध्यान उधर गया। वो उठा और माँ के पास जाकर उसे सहलाने/पुकारने लगा। बड़े ने छोटे को आवाज दे कर कहा, "डॉक्टर चौधरी को बुला लाओ"। डॉक्टर चौधरी फॅमिली डॉक्टर थे। छोटा एक मिनट को हतप्रभ रह गया, फिर शायद समझ गया और बाहर दौड़ा। ओंकार आवाजें सुन कर अंदर भागते हुए रास्ते में छोटे से टकरा गए। पूँछा, "क्या हुआ?"

- "माँ..."

- "माँ को क्या..."

- "...खा गए तुम उन्हें... और क्या..."

लड़का आँखें लाल किए बाहर चला गया। ओंकार सन्न रह गए। एकदम जड़। अंदर गए तो डॉक्टर लड़के ने कहा, "ये तो गईं।"

लक्ष्मी आने के दिन लक्ष्मी गई!

ये ओंकार के लिए एक साथ दोहरा और सबसे गहरा आघात था - पत्नी का जाना और अपनी ही औलाद से प्रताड़ित होना कि 'खा गए तुम उन्हें'! लेकिन ये उनके लिए पाँचवाँ/छटवाँ आघात था। माँ की मृत्यु, पिता की मृत्यु, गाँव की जमीनों का बिक जाना, पत्नी का नौकरी कर के घर चलाना... अब उस सब के ऊपर ये! ओंकार एकदम चुप हो गए। एकदम खामोश। सिर्फ सुबह घूमने चले जाते थे, बस।

दसवाँ हुआ। तेरहवीं हुई। चौदहवें दिन ओंकार जब घूमने गए तो दोपहर हो गई, शाम हो गई, रात हो गई - वापस ही नहीं आए। ढुँढ़वा पड़ा। कहीं मिले ही नहीं। पौर के तख्त के पास एक मेज पर कुछ कागज एक पत्थर से दबे रखे थे। दूसरे दिन वे देखे गए। उनमें ओंकार ने जायदाद और बैंक इत्यादि के सारे पेपर्स लड़कों के नाम कर दिए थे।

वे इस बार गए, तो गए!